तित्थयर

सत्रहवाँ वर्ष । जनवरी १९९४ । नवम् अंक

आ.श्री. कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र कोबा

जैन भवन

तित्थयर

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष १७ : अंक ६
जनवरी १६६४

□

संपादन
राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सो एक
वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी-२५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

सूची

सही अर्थों में सन्त २५६
स्मृति शेष गणेशजी ललवानी २६०
रास्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना २६२
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २७६
जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या २८८

स्व० गणेशजी ललवानी

सही अर्थों में सन्त

स्व० गणेश ललवानी सही अर्थों में सन्त थे। वे पाँच महाव्रतों को अपने आचरण में उतारने के लिये प्रतिक्षण जागरूक थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे महान मनीषी, प्रकांड विद्वान और कर्मठ व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने साहित्य और कला की सभी विधाओं में अपनी मौलिक प्रतिभा का और क्षमता का परिचय दिया। बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा पर उनका समान अधिकार था। वे सरलता, सादगी और सहजता की पवित्र त्रिवेणी थे। उन्हें अहम तो छू भी नहीं गया था पर वे निर्भीक और स्पष्टवादी थे। धर्म के नाम पर की जानेवाली जड़ क्रियाओं और पाखंडों का देखकर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती थी। अपनी संयत लेखनी से इस सन्दर्भ में वे बराबर लिखते रहे। वे किसी भी संप्रदाय या पन्थ से नहीं जुड़े थे वे समग्र सत्य के प्रति प्रतिबद्ध थे। उनकी अकाल मृत्यु से हमारे बीच में से एक ऐसी विभूति चली गई जिसका कोई जोड़ नहीं है। मेरा उनसे घनिष्ट आत्मीय सम्बन्ध था। ऐसे सवेदनशील व्यक्ति के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करता हूँ और कामना करता हूँ कि उनके अधूरे छोड़े गये कामों को जिस संस्था से वे आजीवन जुड़े हुये थे वह उन्हें पूरा करेगी।

कन्हैयालाल सेठिया

स्मृति शेष गणेशजी ललवानी

श्री ललवानी जी से मेरा परिचय आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व उनके अग्रज स्वर्गीय किस्तूरचन्दजी ललवानी के द्वारा हुआ था। श्री किस्तूर चन्दजी मेरे सहकर्मी और घनिष्ठ मित्र थे। उनसे पारिवारिक परिचय था। तब से मैंने गणेशजी को निकटता से देखा, पहचाना और परखा है। वे एक विभूति थे।

उनका व्यक्तित्व अपनी विराटता में ऊँचाइयों को छूता था, और अपनी गरिमा की पहचान देता था—इसी प्रकार उनमें समुद्र की अतलान्त गहराई और गम्भीरता थी—वे जितने उच्च थे उतने ही गम्भीर और गहरे। गत पाँच दशकों में मैंने उन्हें कभी कषाययुक्त नहीं पाया। अपनी सहज सरल स्मिति से वे अयसकान्त मणि की भांति सबको आकृष्ट करते थे। मैंने उनके मुख से कभी किसी के प्रति अन्यथा भाव नहीं पाया। ऐसा सरल और स्वच्छ उनका व्यक्तित्व था; पूर्णतः निष्ठावान, कर्त्तव्यमय और ध्येयके प्रति समर्पित। इन विशिष्ट गुणों के कारण मैं कह सकता हूँ कि उन्होंने इस आगम वचन को सार्थक किया—

निसवलेवा गगण मिव
निराबलंबा सणिलो इव।
(औपपातिक सूत्र-२७)

वे सही अर्थ में साधक थे। यदि श्रमणत्व का सार उपशम है, तो वे श्रमण धर्म के पालक थे। उनका श्रुतज्ञान अद्‌भुत था—'स्व पर प्रत्यागकं सुतनाणं'।

उनके व्यक्तित्व की एक और विशिष्टता थी, जिसे मैंने विरल पाया। आज हम संप्रदाय की संकीर्ण परिधि में जकड़े हुए हैं—पर गणेशजी में साम्प्रदायिकता का नितान्त अभाव था—वे पूर्णतः 'जैन' थे—जैनधर्म के उद्‌बोधक।

उनका कृतित्व भी व्यक्तित्व की भांति उनके वैदुल्य की व्यापकता और गम्भीरता का प्रमाण है। वे बहुभाषा विद् तो थे ही। कवि और चित्रकार

व संगीतकार भी थे। जैन धर्म का उन्होंने सम्यक अध्ययन किया था—अन्य दर्शनों और धर्मों में भी वे निष्णात थे पर कभी मैंने उन्हें 'गुरु गम्भीर' नहीं पाया। आडम्बर, अभिमान, ममकार, अहंकार और आत्म प्रचार से वे सदैव दूर रहे। आज के युग में जब अहंकार ममकार का ढोल पीटा जाता है, उनकी साधना मौन साधना थी, सिद्धि थी। उन्होंने जीवन भर निःस्वार्थ भाव से जैन ध्वज को उत्तंग रखा और जैन जर्नल के माध्यम से उसकी महिमा उजागर की। जब कभी कुछ किसी समस्या को सुलझाना होता था, मैं उनसे पूछता और वे उसका समाधान करते—वे प्रज्ञा पुरुष थे।

ऐसे व्यक्तित्व और कृतित्व के लिए मैं वृहत और महत्व शब्दों को ही प्रमाणित करना चाहूँगा—वे जितने वृहत थे उतने ही महत्व भी। ऐसा कांचन संयोग आज दुर्लभ है।

यह सही है कि कालो जग दे भक्षकां काल सदैव भक्षन करता रहता है पर इस भक्षण के बाद भी कुछ ऐसा सनातन है जो व्यक्ति को अमर बना देता है अक्षय कीर्ति से सम्पन्न रखता है। गणेशजी ऐसे ही कीर्तिवान हैं। आज वे नहीं हैं, पर उनकी मधुर स्मृतियाँ मेरे मानस-पटल पर सदैव अंकित रहेंगी। 'प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः' जो दिन बीत गए वे लौटकर नहीं आएंगे, जो विद्वान-महत्-वृहत् व्यक्तित्व के धनी होते हैं वे ही सही अर्थ में सरस्वती के साधक हैं और हैं अपनी प्रज्ञा से संस्कृति को नवोन्मेष देने वाले श्री गणेश ललवानी ऐसे ही विराट पुरुष थे। उन्हें नमन

आपका

—कल्याणमल लोढ़ा

राजस्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल 'शास्त्री'

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि के रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले साधु-संतों, आचार्यों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं एवं कृतियों द्वारा जनता में देशभक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं नैतिकता का प्रचार किया। यहाँ के रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, माँडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता देश-भक्ति एवं त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, अजमेर, जयपुर, आमेर, डूंगरपुर, सागवाड़ा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रन्थकारों, साहित्योपासकों एवं सन्तों के पवित्र स्थल हैं। इन्होंने अनेक संकटों एवं झंझावातों के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान् है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेकों विद्वान् संत हुए जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नहीं हो सकता। यहाँ सन्तों की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमें व्यवधान नहीं आया। सगुण एवं निर्गुण दोनों ही भक्ति की धाराओं के संत यहाँ होते रहे और उन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रवचनों, गीति-काव्यों एवं मुक्तक छन्दों द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा। इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर जैन सन्तों का तो राजस्थान सैंकड़ों वर्षों तक केन्द्र रहा है। डूंगरपुर, सागवाड़ा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड़ आदि इन सन्तों के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान में ही नहीं किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी विहार करके अपने ज्ञान एवं आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते। ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से

कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा में जनता द्वारा कृतियों की माँग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते। कभी वे रास एवं कथा-कहानी के रूप में तथा कभी फागु, वेलि, शतक एवं बारहखड़ी के रूप में पाठकों को अध्यात्म-रस पान कराया करते। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रहीं, प्रान्तवाद के झगड़े में वे कभी नहीं पड़े, क्योंकि इन सन्तों की साहित्यरचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म उन्नति एवं जनकल्याण रहा। लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद् पुराण, रामायण एवं महाभारत-काल के ऋषियों एवं सन्तों के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एवं उसकी सुरक्षा जैन सन्तों ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नहीं हो सकी है। राजस्थान के इन सन्तों ने स्वयं तो विविध भाषाओं में सैकड़ों हजारों कृतियों का सर्जन किया ही किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओं, कवियों एवं लेखकों की रचनाओं को भी बड़े प्रेम श्रद्धा एवं उत्साह से संग्रह किया। एक-एक ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों में विराजमान की और जनता को उन्हें पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया। राजस्थान के आज सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलंत उदाहरण हैं। जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदाय के चक्कर में नहीं पड़े किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रंथभण्डार स्थापित किये। इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणामस्वरूप राजस्थान के जैन ग्रंथभण्डारों में १।।-२ लाख हस्तलिखित ग्रंथ अब भी उपलब्ध होते हैं। ग्रंथसंग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्यों एवं अन्य ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं और उनके पठन-पाठन में सहायता पहुँचाई। राजस्थान के जैनग्रन्थ-भण्डारों में अकेले जैसलमेर के जैन संत-संग्रहालय ही ऐसे संग्रहालय हैं जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बड़े-से-बड़े ग्रन्थ-संग्रहालय से की जा सकती है। उनमें अधिकांश ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रतियां हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। ताड़पत्र पर लिखी हुई इतनी प्राचीन प्रतियाँ अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। श्री जिनचन्द्रसूरि ने संवत् १४९७ में वृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैंकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचाया।

जैसलमेर के इन भण्डारों को देखकर कर्नल टाड, डा० बूह्लर, डा० जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान् एवं भाण्डारकर, दलाल, जैसे भारतीय विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति वृत्ति की इस भण्डार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी संवत् ११९७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी।[1] जैनागमों एवं ग्रन्थों की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श की संवत् ११६१ की, मम्मट के काव्य-प्रकाश की संवत् १२१५ की, रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका सहित संवत् १२०६, एवं कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं। विमल सूरि कृत प्रकृति के महाकाव्य पउमचरिय की संवत् १२०४ की जो प्रति है वह सम्भवतः अब तक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है। इसी तरह उद्योतन सूरिकृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन है जो संवत् १२६१ की लिखी हुई है। कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टी आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भण्डारों के अतिरिक्त आमेर, अजमेर, नागौर, बीकानेर के भण्डारों में भी संग्रहीत हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्वकौमुदी, पातंजलयोगदर्शन, न्यायविन्दु, न्याय कंदली, खंडन-खंडखाद्य, गोतमीय न्याय-सूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन संतों द्वारा प्रतिलिपि की हुई इन भण्डारों में संग्रहीत हैं। नाटक साहित्य में मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, अनर्घराघव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं। जैनसंतों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली बल्कि हिन्दी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया। कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियों द्वारा लिखा हुआ अधिकांश साहित्य आज आमेर शास्त्रभण्डार में मिलेगा। इसी तरह पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो की महत्वपूर्ण प्रतियाँ बीकानेर एवं कोटा के शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं। कृष्ण-रुक्मणिबेलि, रसिकप्रिया एवं विहारीसतसई की तो गद्यपद्य टीका सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भण्डारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं।

राजस्थान के ये जैन संत साहित्य के सच्चे साधक थे। आत्मचिंतन एवं आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता, वे उसका पूरा सदुपयोग साहित्यरचना में करते थे। वे स्वयं ग्रंथ लिखते, दूसरों से लिखवाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते। अपनी रचनाओं के

१ संवत् ११९७ मंगल महाश्री ॥६॥ पाहिलेन लिखितम् मंगल महाश्री।

अन्त में इस तरह के कार्य की अत्यधिक प्रशंसा करते। इसके दो उदाहरण देखिये—

१. जो पढइ पढावइ एक चित्तु, सइ लिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु।
आयण्णइं मण्णइं जो पसत्थु, परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु॥
जिप्पइ ण कसायहि इंदिएहिं, तो लियइ ण सो पासंडिएहि।
तहो दुक्किय कम्मु असेसु जाइ, सो लहइ मोक्ख सुक्खभावइ।
—श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्ड

२. मनोहार प्रबन्ध ए गुंथ्यो करि विवेक।
प्रद्युमन गुण सूत्रिकरी, सब वन कुसम अनेक ॥१०॥
भवीयण गुणि कंठि करो, एह अपूरव हार।
घरि मंगल लक्ष्मी घणी, पुण्य तणो नहिं पार ॥११॥
भणि भणाति सांभलि, लिखि लिखावइ एह।
देवेन्द्रकीर्ति गच्छपती कहि, स्वर्ग मुक्ति लहि तेह।
—भ० देवेन्द्रकीर्ति कृत प्रद्युम्नप्रबन्ध

इसी तरह कवि सधारु ने तो ग्रन्थ के पढ़ने-पढ़ाने लिखने और लिखवाने का जो फल बतलाया है वह और भी आकर्षक है :

ऐहु चरितु जो वांचइ कोइ, सो नर स्वर्ग देवता होइ।
हलुवइ धर्म्म खपइ सो देव, मुकति वरंगणि मागइ एम्ब ॥६६७॥
जो फुणि सुणइ मनह धरि भाउ, असुभ कर्म ते दूरि हि जाइ।
जोर वखाणइ माणुसु कवणु, तहि कहु तुसइ देव परदवणु॥
अरु लिखि जो लिखियावई साधु, सो सुर होइ महागुण राधु।
जोर पढावइ गुण किउ विलउ, सो नर पावइ कंचण मलउ॥६६८॥
यहु चरितु पुंन भंडारू, जी वरु पढइ सु नर मह सारु।
तहि परदमणु तुही फल, देइ, संपति पुत्र अवरु जसु होई ॥७००॥

ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। शुद्ध प्रतिलिपि करना, सुन्दर एवं सुवाच्य अक्षर लिखना एवं दिन भर कमर झुकाये ग्रन्थलेखन का कार्य प्रत्येक के लिये संभव नहीं था। उसे तो सन्त एवं संयमी विद्वान् ही सम्पन्न कर सकते थे। इसलिये वे ग्रन्थ के अन्त में कभी-कभी उसकी सुरक्षा के लिये निम्न शब्दों में पाठकों का ध्यान आकर्षित किया करते थे।

भग्नपृष्टि कटिग्रीवा, वक्रदृष्टिरधो मुखम् ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत् ।।

इन संतों के सुरक्षा के विशेष नियमों के कारण राजस्थान में ग्रंथों का एक विशाल संग्रह मिलता है। कितने ही ग्रन्थसंग्रहालय तो अब भी ऐसे हैं जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नहीं की गई है। लेखक को राजस्थान के ग्रंथभण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने के अवसर पर राजस्थान के १०० भी से अधिक भण्डारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है।

यदि मुस्लिमयुग में धर्मान्ध शासकों द्वारा इन शास्त्रभण्डारों का विनाश नहीं किया जाता एवं हमारी ही लापरवाही से सैकड़ों हजारों ग्रन्थ चूहों, दीमक एवं शीलन से नष्ट नहीं होते तो पता नहीं आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारों में ग्रन्थ उपलब्ध होते ! फिर भी जो कुछ अवशिष्ट हैं उनका ही यदि विविध दृष्टियों से अध्ययन कर लिया जावे, उनकी सम्यक् रीति से ग्रन्थसूचियाँ प्रकाशित कर दी जावें तथा प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के लिये वे सुलभ हो सकें तो हमारे आचार्यों साधुओं एवं कवियों द्वारा की हुई साहित्य-साधना का वास्तविक उपयोग हो सकता है। जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, चुरू, आमेर, जयपुर, अजमेर, भरतपुर, कामा आदि स्थानों के संग्रहीत ग्रन्थभण्डारों की आधुनिक पद्धति से व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें रिसर्च-केन्द्र बना दिया जाना चाहिये जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानीय भाषा पर रिसर्च करने वाले विद्यार्थियों द्वारा उनका सही रूप से उपयोग किया जा सके। क्योंकि उक्त सभी भाषाओं में लिखित अधिकांश साहित्य राजस्थान के इन भण्डारों में उपलब्ध होता है। यदि ताड़पत्र पर लिखी हुई प्राचीनतम प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डारों में संग्रहीत हैं तो कागज पर लिखी हुई संवत् १३१९ की सबसे प्राचीन प्रति जयपुर के शास्त्रभण्डार में संग्रहीत हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व जयपुर के एक भण्डार में हिन्दी की एक अत्यधिक प्राचीन कृति जिनदत्त चौपई (रचना काल सं० १३५४) उपलब्ध हुई है जो हिन्दी भाषा की एक अनुपम कृति है।

प्रसन्नता की बात है कि इधर कई वर्षों से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य पर भी रिसर्च किया जाना प्रारम्भ हुआ है। विद्यार्थियों का उधर और भी झुकाव हो सकता है। यदि हम इन भण्डारों को

शोधकेन्द्र (Research Centres) के रूप में परिवर्तित कर दें और उनको अपने शोधप्रबन्ध लिखने में पूरी सुविधाएँ प्रदान करें । अब यहाँ राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तों की भाषानुसार साहित्यिक सेवाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है :

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य :

जम्बूद्वीपपण्णति के रचयिता आचार्य पद्मनंदि राजस्थानी सन्त थे । इसमें २३८६ प्राकृत गाथाएँ है जिनमें जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है । प्रज्ञप्ति की रचना वारा (कोटा) नगर में हुई थी । उन दिनों मेवाड़ पर राजा शक्ति या सक्ति का शासन था और वारा मेवाड़ के अधीन था । ग्रंथकार ने अपने आपको वीरनंदि का प्रशिष्य एवं वलमंदि का शिष्य लिखा है । हरिभद्र सूरि राजस्थान के दूसरे संत थे जो प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के जबर्दस्त विद्वान थे । इनका सम्बन्ध चित्तौड़ से था । आगमग्रंथों पर उनका पूर्ण अधिकार था । इन्होंने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमग्रंथों पर संस्कृत में बिस्तृत टीकाएँ लिखीं और उनके स्वाध्याय में वृद्धि की । न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे । इन्होंने *अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश* जैसे दार्शनिक ग्रंथों की रचना की । समराइच्चकहा प्राकृत भाषा की इनकी सुन्दर कथाकृति है जो गद्य-पद्य दोनों में ही लिखी हुई है । इसमें ६ प्रकरण हैं जिनमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ-साथ चलने वाले ६ जन्मान्तरों का वर्णन किया गया है । इसका प्राकृतिक वर्णन एवं भावचित्रण दोनों ही सुन्दर हैं । धूर्ताख्यान भी इनकी अच्छी रचना है । हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु एवं योगदृष्टिसमुच्चय भी दर्शनशास्त्र की अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं ।

महेश्वरसूरि भी राजस्थानी संत थे । इनकी प्राकृत भाषा की ज्ञानपञ्चमीकहा तथा अपभ्रंश की "संयममंजरीकहा" प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । जैन दृष्टिकोण से लिखी गई, दोनों ही कृतियों में कितनी ही सुन्दर कथाएँ हैं । ज्ञानपञ्चमीकहा में जयसेन, नंद, भद्रा, वीर, कमल, गुणानुराग, विमल, धरण, देवी और भविष्यदत्त की कथाएँ हैं । कथाएँ सुन्दर, रोचक एवं धाराप्रवाह में वर्णित है तथा एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे छोड़ने को मन नहीं चाहता ।

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौड़ के निवासी थे । इनके पिता

का नाम गोवर्द्धन था। धक्कड़ उनकी जाति थी तथा श्री उजपुर से उनका निकास हुआ था। इन्होंने अपनी कृति 'धम्मपरिक्खा' संवत् १०४४ में अचलपुर में समाप्त की थी। धम्मपरिक्खा अपभ्रंश की सुन्दर कृति है जिसकी ११ संधियों में १०० कथाओं का वर्णन किया गया है। यह कथा-कृति जैन समाज में बहुत प्रिय रही। राजस्थान में इसका विशेष प्रचार था। इसलिए यहाँ के कितने ही ग्रंथभंडारों में इस कृति की पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं।

धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त राजस्थान के ग्रंथ-संग्रहालयों में अपभ्रंश भाषा की १०० से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, सिंह, लक्ष्मण (लाखू) रइधू आदि कवियों की रचनाएँ राजस्थान में विशेष रूप से प्रिय रही हैं। यहाँ के भट्टारकों एवं यतियों ने अपभ्रंश कृतियों की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारों में स्थापित करने में विशेष रुचि ली और यह परम्परा १५वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक अधिक रही। अपभ्रंश की इन कृतियों के लिये जयपुर, आमेर एवं नागौर के भण्डार विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग इन्हीं भण्डारों में संग्रहीत है।[१]

संस्कृत साहित्य :

राजस्थान के अधिकांश संत संस्कृत के भी विद्वान थे। संस्कृत साहित्य से उन्हें विशेष रुचि थी और इस भाषा में उन्होंने श्रावकों के लिये पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का भी सृजन किया था। १७वीं शताब्दी तक संस्कृत रचनाओं को पढ़ने की जनसाधारण में विशेष रुचि रही, इसीलिए प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों पर भी संस्कृत में टीकाएँ एवं टिप्पण लिखे जाते रहे। किसी विषय पर यदि नवीन रचनाओं का लिखा जाना संभव नहीं हुआ तो प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियां करवा कर भंडारों में रखी गयी। राजस्थान के सिद्धर्षि संभवतः प्रथम जैन संत थे जिन्होंने उपदेशमाला पर संस्कृत टीका लिखी और 'उपमितिभवप्रपंच कथा' को संवत् ९६२ में समाप्त किया। चन्द्रकेवलिचरित इनकी एक और रचना है जिसे इन्होंने संवत् ९७४ में पूर्ण किया था। १२वीं शताब्दी में होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से भी राजस्थानी जनता कम उपकृत नहीं है। इनके द्वारा लिखे हुये

---

१ अपभ्रंश ग्रंथों के परिचय के लिये देखिये लेखक द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह'

साहित्य का इस प्रदेश में विशेष प्रचार रहा। यही कारण है उनके द्वारा निबद्ध साहित्य दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्रभंडारों में समान रूप से पाया जाता है। हेमचन्द्राचार्य संस्कृत के उद्भट विद्वान थे और उन्होंने जो कुछ इस भाषा में लिखा वह प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। १५वीं शताब्दी में राजस्थान में भट्टारक सकलकीर्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सकलकीर्ति संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। ये पहिले मुनि थे और बाद में इन्होंने अपने आपको भट्टारक घोषित किया था तथा संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की। इन्होंने २८ से भी अधिक संस्कृत रचनाएँ लिखीं जो राजस्थान के विभिन्न ग्रंथभंडारों में उपलब्ध होती हैं। सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी परम्परा में होने वाले भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति शुभचन्द, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति, वादिभूषण आदि अनेक शिष्य संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। इन संतों ने संस्कृत भाषा के कितने ही ग्रन्थ लिखे, श्रावकों से आग्रह करके ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाईं और शास्त्र-भण्डारों में विराजमान कीं। ब्रह्म जिनदास की १२ से अधिक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें रामचरित (पद्मपुराण) हरिवंशपुराण एवं जम्बूस्वामीचरित के नाम उल्लेखनीय हैं।

भट्टारक ज्ञानभूषण की अकेली तत्त्वज्ञानतरंगिणी (सं० १५६०) उनकी संस्कृत की विद्वता को बतलाने के लिये पर्याप्त है। शुभचन्द्र तो अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे। इनकी संस्कृत रचनाएँ प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रही हैं। इनकी २४ संस्कृत रचनाएँ तो उपलब्ध हो चुकी हैं। ये षट्भाषाकविचक्रवर्ती कहलाते थे, तथा विविध विद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम तथा परमागम के ज्ञाता) थे। इनकी प्रसिद्ध कृतियों में चन्द्रप्रभचरित्र, करकुण्डचरित्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, जीवन्धरचरित, पांडवपुराण, श्रेणिकचरित्र, चारित्रशुद्धिविधान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सोमकीर्ति १५वीं शताब्दी के उद्भट विद्वान थे। ये काष्टसंघ में होने वाले ८७वें भट्टारक थे तथा भीमसेन के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में सप्तव्यसनकथा, प्रद्युम्नचरित्र एवं एवं यशोधरचरित्र रचनाएँ कीं। तीनों ही लोकप्रिय रचनाएँ हैं और शास्त्रभण्डारों में मिलती हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान ब्र० रायमल्ल ने भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति लिखकर अपनी संस्कृत-विद्वता का परिचय दिया। ब्र० कामराज ने सकलकीर्ति के आदिपुराण को देखकर सं० १५६० में जयपुराण की रचना की। सेमगण के प्रसिद्ध भट्टारक सोमसेन ने वैराट नगर में शाक संवत् १६५६

में पद्मपुराण की रचना की। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ योगचिन्तामणि के संग्रहकर्त्ता थे नागपुरीय तपोगच्छ के संत हर्षकीर्ति सूरि। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम वैद्यकसार संग्रह भी है। इस ग्रन्थ की प्रतियां राजस्थान के बहुत से भण्डारों में उपलब्ध होती हैं।

१५वीं शताब्दी में जिनदत्त सूरि ने जैसलमेर में वृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना की। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनके शिष्य कमलसंयमोपाध्याय ने संवत् १५४४ में उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका लिखी। इनके अतिरिक्त जैसलमेर में और भी कितने ही सन्त हुये जो संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इधर आमेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर एवं नागौर भी भट्टारकों के केन्द्र रहे। ये अधिकांश भट्टारक संस्कृत के विद्वान होते थे। इनके द्वारा लिखवाये बहुत से ग्रन्थ राजस्थान के कितने ही भण्डारों में उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य :

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य रचना बहुत पहिले से प्रारम्भ हो गई थी। जनसाधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन संतों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा को अपना लिया और इसमें छोटी रचनाएँ लिखी जाने लगीं। यद्यपि १७-१८वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में कृतियाँ लिखी जाती रहीं एवं संस्कृत ग्रन्थों के पठन-पाठन में जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहले थी, किन्तु १३-१४वीं शताब्दी से ही जनसाधारण की रुचि हिन्दी रचनाओं की ओर बढ़ती गयी और उनमें नये-नये ग्रन्थ लिखे जाते रहे और उन्हें शास्त्र भंडारों में विराजमान किया जाता रहा। राजस्थान में हिन्दी का प्रथम संत कवि कौन था। यह तो अभी खोज का विषय है और इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं, लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३वीं शताब्दी से अपभ्रंश रचनाओं के साथ-साथ हिन्दी रचनायें भी लिखी जाने लगीं। राजस्थान में जैन संतों ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा में लिखना विद्वता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान देशी भाषा कहकर सम्बोधित किया करते थे। किन्तु जैन संतों ने उनकी कुछ भी परवाह नहीं की और जनसाधारण की इच्छा एवं अनुरोध को ध्यान में रखकर हिन्दी-साहित्य का सर्जन करते रहे। पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओं से प्रारम्भ किया गया फिर रास, चरित, वेलि, फागु, पुराण एवं काव्य लिखे जाने लगे। १४वीं शताब्दी में

लिखा हुआ जिनदत्त चौपाई हिन्दी का सुन्दर काव्य है जो कुछ ही समय पहिले जयपुर के एक जैन भण्डार में उपलब्ध हुआ है। पद स्तवन एवं स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे। फिर व्याकरण, छंद। अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक औपदेशिक, संवाद आदि विषयों को भी नहीं छोड़ा गया और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया। हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में संग्रहीत है। हिन्दी एवं राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तों का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था में पड़ा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है। राजस्थान में सैकड़ों जैन संत हुए हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है। लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओं को भुला बैठे हैं। अब साहित्य को शास्त्र भण्डारों में अथवा आलमारियों में बन्द करके रखने का समय नहीं है किन्तु उसे बिना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानों एवं पाठकों के सामने रखने का है।

भरतेश्वर बाहुबली रास संभवतः प्रथम राजस्थानी कृति है जो जैन संत शालिभद्र सूरि द्वारा १३वीं शताब्दी में लिखी गयी। इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुबली के जीवन का संक्षिप्त चित्रण है। भरत एवं बाहुबली के युद्ध का रोचक वर्णन है। इसके पश्चात् विजयसेन सूरि का रेवंतगिरिरास (सं० १२८८) सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं० १२७०) विनयप्रभ का गौतमरास (सं० १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये।

१५वीं शताब्दी से तो हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में रचनाओं की एक बाढ़-सी आ गयी। भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत में रचनाएँ निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाएँ राजस्थानी भाषा में भी लिखी, जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है। सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओं में आराधना-प्रतिबोधसार, मुक्तावलिगीत, णमोकारगीत, सारसिखामणिरास आदि के नाम उल्लेखनीय है। सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। इन रचनाओं में कितनी ही रचनायें तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बड़ी है। इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाएँ हैं। ब्रह्म जिनदास की अब तक ३३ रासा ग्रंथ, २ पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ६ पूजाएँ एवं ७ स्फुट रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास,

परमहंसरास, हरिवंशपुराण, आदिनाथपुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य-परम्परा में होने वाले सभी भट्टारकों ने हिन्दी भाषा में रचनाएँ लिखने में पर्याप्त रुचि ली।

खरतरगच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १५-१६वीं शताब्दी के विद्वान थे। इन्होंने राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनायें लिखीं जिनमें विनती, स्तवन एवं स्तोत्र आदि हैं। ऋषिवर्द्धन सूरि की नलदमयन्तीरास (सं० १५१२) प्रमुख रचना है। मतिसागर १६वीं शताब्दी के विद्वान थे। राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें धन्नारास (सं० १५१४) नेमिनाथ वसंत, मयणरेहारास, इलापुत्र चरित्र, नेमिनाथगीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ब्रह्म बूचराज १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी जो इन्होंने सवत् १५८४ में समाप्त की थी। इनके अन्य ग्रंथों में सन्तोष-तिलक जयमाल, चेतन पुद्गलधमाल आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये दोनों ही रूपक रचनायें हैं जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती है। संत विद्याभूषण रामसेन परम्परा के यति थे। इन्होंने सोजत नगर में भविष्यदत्त रास को संवत् १६०० में समाप्त किया था। धर्म समुद्र गणि खतरगच्छीय विवेकसिंह के शिष्य थे जिन्होंने 'सुमित्र कुमाररास' को जालौर में संवत् १५६७ में तथा प्रभाकर गुणाकर चौपई' को संवत् १५७३ में मेवाड़ प्रदेश में समाप्त किया है। शकुंतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है जो संभवतः इस तरह की प्रथम रचना है। पार्श्वचन्द्र सूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे। इन्होंने ५० से अधिक रचनायें राजस्थानी भाषा को समर्पित करके साहित्य सेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया। इनका जन्म संवत् १५३८ में तथा स्वर्गवास संवत् १६१२ में हुआ था। राजस्थान के अन्य संत कवियों में विनयसमुद्र, कुशललाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुशललाभ खरतरगच्छ के सन्त थे। इनके द्वारा लिखी हुई 'माधवानल चौपई' (संवत् १६१६) एवं 'डोला-मारवणरी चौपई' राजस्थानी भाषा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनायें हैं जो लोककथानकों पर आधारित हैं। इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे। इनका अधिकतर विहार जोधपुर एवं बीकानेर प्रदेश में हुआ और अपने जीवन में २७-२८ रचनायें लिखीं। सभी रचनायें राजस्थानी भाषा की हैं।

१७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रह्मरायमल्ल एक अच्छे संत हुए जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्त कथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना है। इन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर काव्य रचना की और जनसाधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। इन्होंने गढ़हरमौर, गढ़रणथम्भौर एवं सांगानेर आदि स्थानों का अपनी रचनाओं में अच्छा वर्णन किया है। आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे। इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एवं आनन्दघन चौबीसी उच्चस्तर की रचनायें हैं। विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म संवत् १६६० एवं मृत्यु संवत् १७३० में हुई थी। ब्रह्म कपूरचन्द ने संवत् १६९७ में पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था। इनके कितने ही पद भी मिलते हैं। इनका जन्म आनन्दपुर में हुआ था। हर्षकीर्ति भी १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे। 'चतुर्गति बेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसे इन्होंने संवत् १६८३ में समाप्त किया था। इनकी अन्य रचनाओं में षट्लेश्याकवित्त, पंचभगति बेलि, कर्महिडोलना, सीमंधर की जकड़ी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय हैं। इनके कितने ही पद भी मिलते हैं जो भक्ति एवं वैराग्य रस से ओतप्रोत हैं।

समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में कवि का ज्ञानपरिसर बहुत ही विस्तृत है। वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आयास के सहज ही सम्भाल लेता है। इन्होंने संस्कृत में २५ तथा हिन्दी राजस्थानी भाषा में २३ ग्रन्थ लिखे। इन्होंने सात छत्तीसियों की भी रचना की। कवि बहुमुखी प्रतिभा एवं असाधारण योग्यता वाले विद्वान् थे। इन्होंने सिन्धु, पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में विहार किया और उनमें विहार करते विभिन्न ग्रन्थों की रचना भी की। राजस्थान में इन्होंने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय में एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने में सफल हुये। ये संगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओं को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे।

राजस्थान का बागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है। इसलिए गुजरात में होनेवाले बहुत से भट्टारक एवं सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण-कमलों से। यहाँ साहित्य रचना करते एवं अपने भक्तों को उनका रसास्वादन कराते। इन सन्तों में भ० रत्नकीर्ति, भ० कुमुदचन्द, भ० अभयचन्द, भ० अभयनन्दी, भ० शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति,

श्रीपाल, गणेश आदि संस्कृत हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। इनकी कितनी ही रचनाएँ रिखबदेव, डूंगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर के शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध हुई हैं। रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एवं कितने ही पद उल्लेखनीय हैं। उनके पदों में मिठास एवं भक्ति का रसास्वादन करने को मिलता है। नेमिराजुल के विवाह से सम्बन्धित प्रसंग ही इनकी रचनाओं का एवं पदों का मुख्य विषय है। एक पद देखिये :

राग-देशाख

सखि को मिलावो नेमि नरिंदा ॥
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चन्दा ॥ सखि० ॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा ।
तात मात अरु सजनी रजनी वे अति दुख को कन्दा ॥ सखि० ॥
तुम तो संकर सुख के दाता करम काट किये मंदा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु सेवत अमर नरिंदा ॥ सखि० ॥

कुमुदचन्द्र की साहित्य-साधना अपने गुरु रत्नकीर्ति से भी आगे बढ़ चुकी थी। ये बारडोली के जैन सन्त के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी अब तक कितनी ही रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं। इनकी बड़ी रचनाओं में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वर हमची एवं भरतबाहुबली छन्द हैं। शेष रचनायें पद, गीत एवं विनतिओं के रूप में हैं। इनके पद सजीव हैं। उनमें कवि की अन्तरात्मा के दर्शन होने लगते हैं। शब्दों का चयन एवं अर्थ की सरलता उनमें स्पष्ट नजर आती है। एक पद देखिये :

मैं तो नरभव वादि गमायो,
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो ॥ मैं तो० ॥१॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी, निपट विषै लपटायो ॥
विटल कुटिल शठ संगति बैठो, साधु निकट विघटायो ॥ मैं तो० ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो ॥
जब जोवन जंजाल पड्यो तब परत्रिया तनु चित लायो ॥ मैं तो० ॥३॥
अंत समय कोउ संग न आवत झूठहिं पाप लगायो ॥
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही प्रभु पद जस नहीं गायो ॥ मैं तो० ॥४॥

इन भट्टारकों के शिष्य-प्रशिष्य भी साहित्य के परमसाधक थे और उनकी

कितनी ही रचनायें उपलब्ध होती हैं। वास्तव में वह युग संतसाहित्य का युग था।

इधर आमेर, अजमेर एवं नागौर में भी भट्टारकों की गादियाँ थीं और वहाँ के भट्टारक अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य एवं संस्कृति की जागृति के लिये विहार किया करते थे। दिल्ली के भट्टारकपट्ट से आमेर का सीधा सम्बन्ध था और वहीं से नागौर एवं ग्वालियर में भट्टारकों के स्वतन्त्र पट्ट स्थापित हुये थे। भ० सुरेन्द्रकीर्ति [सं० १७२२] भ० जगत्कीर्ति [संव १७३३] एवं भ० देवेन्द्रकीर्ति [सं० १७७०] का पट्टाभिषेक आमेर में ही हुआ था। ये सब जैन सन्त थे और साहित्य के सच्चे उपासक थे। आमेर शास्त्रभण्डार, नागौर एवं अजमेर के भट्टारकीय शास्त्रभण्डार इन्हीं भट्टारकों की साहित्य-सेवा का सच्चा स्वरूप हैं।

संवत् १८०० से आगे इन सन्तों में विद्वता की कमी आने लगी। ये नवीन रचना करने के स्थान पर प्राचीन रचनाओं की प्रतियों को पुनः लिखवा कर भण्डारों में संग्रहीत करने में ही अधिक व्यस्त रहे। यह भी उनकी साहित्योपासना की एक सही दिशा थी जिसके कारण बहुत से ग्रन्थों की प्रतियाँ हमें आज इन भण्डारों में सुरक्षित रूप में मिलती हैं।

इस प्रकार राजस्थान के इन जैन सन्तों ने भारतीय साहित्य की जो अपूर्व एवं महती सेवा की वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में लिखने योग्य है। उनकी इस सेवा की जितनी अधिक प्रशंसा की जाएगी कम ही रहेगी।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

तब अन्धक वृष्णी समुद्र विजय को राज्य देकर मुनि सुप्रतिष्ठ से दीक्षित हो गए और मोक्ष को प्राप्त किया।

भोजक वृष्णि ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। उनके पश्चात उग्रसेन मथुरा के राजा बने और धारिणी उनकी पटरानी बनी।

एक दिन उग्रसेन नगर के बाहर निकले। राह के एक निभृत स्थान में एक मासखमण के तपस्वी को खड़े देखा। उन तपस्वी ने यह अभिग्रह धारण कर रखा था कि एक घर से जो भिक्षा मिलेगी उसे ही ग्रहण करूँगा अन्य स्थानों से नहीं लूँगा। उग्रसेन ने उन्हें अपने घर भिक्षा लेने को आमंत्रित किया और स्वगृह लौट गए। उनके कथनानुसार तपस्वी उनके घर गए किन्तु उग्रसेन आमंत्रण की बात भूल गए। अतः वे भिक्षा प्राप्त किए बिना ही लौट आए और पुनः एकमास का उपवास आरम्भ कर दिया।

संयोगवशतः उग्रसेन पुनः वहीं गए और उन तपस्वी को देखा। उन्हें निमन्त्रण की बात स्मरण हो आने पर उनके पास गए और विनयपूर्वक अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की। उन्होंने पुनः तपस्वी को आमंत्रित किया और पूर्व की भाँति पुनः भूल गए। तपस्वी भी भिक्षा प्राप्त न होने पर पुनः लौट आए और एक मास का तप पुनः प्रारम्भ कर दिया। उग्रसेन को जब आमन्त्रण की बात याद आयी तो वे फिर उनके पास गए और आमन्त्रित किया किन्तु तपस्वी इस बार क्रुद्ध हो गए और निदान किया कि यदि मेरी इस ततस्या का कोई फल हो तो मैं पर जन्म में इसकी हत्या करूँ। ऐसा निदान कर उपवास कातर मुनि ने देह त्याग किया।

उसी तापस का जीव भ्रूण रूप में उग्रसेन की महिषी धारिणी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। गर्भकाल में गर्भ के प्रभाव से देवी धारिणी को स्व-पति का मांस खाने की इच्छा हुयी। किन्तु इस दोहद की बात किसी को न कह सकने के कारण वे दिनोंदिन दुर्बल होती गयीं। अन्ततः उन्होंने अपने दोहद की बात अपने स्वामी से कही। मन्त्रियों ने एक शशक का मांस राजा के देह पर बाँधकर उन्हें अन्धकारमय स्थान में बैठाकर रानी के नेत्रों के सम्मुख ही उस

शशक का मांस काट-काट कर खाने को दिया। इस भाँति दोहद पूर्ण होने पर रानी स्व-स्वभाव में लौट आयी और पश्चाताप करती हुयी कहने लगी—"हा देव, यह मैंने क्या किया? पति बिना तो जीवन ही व्यर्थ है। इस गर्भ की भी क्या आवश्यकता है?" ऐसा कहकर रानी आत्म हत्या के लिए उद्यत हो गयी। किन्तु मन्त्रियों ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'देवी धैर्य धारण करें। हम एक सप्ताह के भीतर ही महाराज को स्वस्थ कर आपके सम्मुख उपस्थित करेंगे।' मन्त्रियों के इस आश्वासन पर वे शान्त हो गयीं और आत्महत्या का विचार छोड़ दिया। सातवें दिन उन्होंने उग्रसेन को रानी के सम्मुख उपस्थित किया। रानी ने आनन्दित होकर इस उपलक्ष में एक उत्सव किया।

इसके पश्चात गर्भकाल पूर्ण होने पर पौषवदी चौदस के दिन चन्द्र जब मूल नक्षत्र में था देवी धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गर्भकाल के उस विचित्र दोहद के कारण रानी इस पुत्र से भयभीत हो गयी थी अतः उसके जन्म के पूर्व ही एक कांस्य मंजूषा बनवाकर रख ली थी उसी में नवजातक को रखकर अपने स्वामी की मुद्रिका एक पत्र और कुछ अलंकारादि रखकर दासी द्वारा उसे यमुना में फिंकवा दिया। रानी ने राजा को कहलवा दिया एक पुत्र जन्मा था वह मर गया।

वह कांस्य मंजूषा तैरती हुयी दूसरे दिन सुबह शौर्यपुर के घाट पर जा लगी। सुभद्र नामक एक रस व्यवसायी उसी समय घाट पर स्नान करने आया। मंजूषा को देखकर उसने उसे जल से बाहर, निकाला और जब खोला उसमें कुछ अलंकार एक पत्र राजा-रानी की मुद्रिका और बालचन्द्र से एक शिशु को देखा। वह व्यवसायी बालक सहित उस मंजूषा को घर ले गया। उसकी पत्नी इन्दुमती ने उसे पुत्र रूप में ग्रहण कर लिया। सुभद्र ने उसे कांस्य मंजूषा में पाया था इसलिए उसका नाम रखा कंस। रस व्यवसायी के घर मधु घृत दूध पीकर कंश क्रमशः बड़ा होने लगा। जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया वैसे-वैसे वह कलह-परायण बनता गया। व्यवसायी दम्पति को प्रतिदिन उसके नाम पर उलाहने मिलने लगे।

कंस जब दस बर्ष का हुआ तो उसके माता-पिता ने उसे राजपुत्र वसुदेव की सेवा में भेजा। कंस वहाँ वसुदेव का प्रिय पात्र बन गया और उनके साथ खेलता-कूदता कलाभ्यास करता यौवन को प्राप्त हुआ। वसुदेव और कंस एक साथ रहते हुए बुध और मंगल ग्रह से लगने लगे।

उधर शुक्तिमती नामक नगर में वसुदेव का नवम पुत्र राज्य कर रहा था।

किसी कारणवश वह वहाँ से भागकर नागपुर गया। उसके पुत्र का नाम था वृहद्रथ। वृहद्रथ राजगृह जाकर रहने लगा। उनके वंश में जयद्रथ नामक एक राजा हुए उनके प्रतिवासुदेव जरासन्ध नामक एक पुत्र हुआ। जरासन्ध तीन खण्ड के अधिकारी और प्रतापी राजा थे। उन्होंने समुद्र विजय को यह आदेश लिखकर भिजवाया, वैताढ्य पर्वत के निकट सिंहपुर नगर में सिंद्धरथ नामक राजा राज्य करता है। वह महाशक्तिशाली है। उसे बन्दी बनाकर मेरे सम्मुख उपस्थित करो। जो इस कार्य में सफल होगा उसके साथ मैं अपनी कन्या जीवयशा का विवाह करूँगा। और एक सुसम्वृद्ध नगर उसकी इच्छानुसार उसे उपहार स्वरूप दूँगा।

वसुदेव ने समुद्र विजय को प्रणाम कर युद्ध में जाने की अनुमति मांगी जबकि यह कार्य था दुष्कर। किन्तु, समुद्र विजय ने उन्हें रोकते हुए कहा—'तुम्हारी देह सुकोमल है। फिर तुमने अभीतक युद्ध क्षेत्र देखा भी नहीं है अतः तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं है किन्तु वसुदेव की इच्छा अपने शौर्य प्रदर्शन की थी एतदर्थ उनके बार-बार आग्रह करने पर समुद्र विजय ने उन्हें युद्ध क्षेत्र में जाने की अनुमति दे दी।

अल्प दिनों में ही वसुदेव लम्बी यात्रा तय करते हुए सिंहपुर पहुँचे। सिंहरथ युद्ध करने आया। सिंहरथ ने अल्प समय में ही वसुदेव की सेना को परास्त कर डाला। तब वसुदेव कंस को सारथी बनाकर युद्ध के लिए अग्रसर हुए। एक दूसरे पर विजय पाने के अभिलाषी वे दोनों नाना प्रकार के शस्त्रों से दीर्घकाल तक देव और दानव की भाँति युद्ध करते रहे। प्रतापी कंस बहुत देर तक चुपचाप नहीं रह सका। वह सारथ्य का परित्याग कर हाथ में मुगदर लिए सिंहरथ की ओर दौड़ा और उसका रथ चूर्ण कर डाला। क्रोध में प्रज्वलित बने सिंहरथ ने कंस को मारने के लिए तलवार निकाली किन्तु उसी क्षण वसुदेव ने तीक्ष्ण तीर द्वरा उस तलवार की मूठ को भग्न कर डाला। उसी अवसर पर पराक्रमी और कौशली कंस भेड़ जैसे मेमने पर टूट पड़ती है उसी प्रकार सिंहरथ पर टूट पड़ा और उसे बन्दी बनाकर, उसके हाथ-पाँव बाँध कर वसुदेव के रथ पर लाकर पटक दिया। सिंहरथ की यह अवस्था देखकर उसकी सेना भय से भाग छूटी। इस प्रकार वसुदेव विजयी होकर सिंहरथ सहित स्व-नगर को लौट गए।

समुद्र विजय वसुदेव की इस विजय से बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु वसुदेव को एकान्त में बुलाकर कहा—"नैमित्तिक कौष्टकी ने जो कुछ कहा था वह विचारणीय है। जरासंध की यह कन्या जीवयशा अशुभलक्षणा है कारण यह

पति और अपने पिता दोनों कुलों का नाश करने वाली है। जरासन्ध अवश्य ही सिंहरथ को बन्दी बनाकर लाने के कारण अपनी कन्यादान करेगा तुम किसी भी प्रकार उसे ग्रहण मत करना।"

वसुदेव बोले, 'कंस ही सिंहरथ को पकड़ कर लाया था अतः जीवयशा उसे ही प्राप्त होनी चाहिए।' समुद्र विजय बोले—'यह तो ठीक है, किन्तु वह क्षत्रिय नहीं है। वह तो वणिक पुत्र है अतः जरासंध उसे अपनी कन्या नहीं भी दे सकता है?' वसुदेव बोले—'वह वणिक पुत्र नहीं लगता है, स्वकार्यों से तो वह क्षत्रिय ही प्रमाणित होता है।' तब समुद्र विजय ने रस-व्यवसायी उसके माता-पिता को बुलवाया। वे भी प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण कंस के सम्मुख ही सारी सच्ची घटना बतला दी और प्रमाण रूप में उग्रसेन और धारिणी की दोनों मुद्राएँ एवं पत्र भी राजा को दे दिया। पत्र में लिखा था—पुत्र प्राणों से अधिक प्यारा होता है फिर भी मैं उग्रसेन राजा की पटरानी धारिणी अपनी दोहद इच्छा से भयभीत होकर स्वामी की रक्षा के लिए इस नवजात को दो मुद्रिकाएँ और अलंकारों सहित इस कांस्य मंजूषा में स्थापित कर यमुना में विसर्जित कर रही हूँ।

उस पत्र को पढ़कर समुद्र विजय बोले 'यदि वह शक्तिशाली यादव वंशीय राजा उग्रसेन का पुत्र नहीं होता तो उसमें इतना वीरत्व सम्भव नहीं था।'

तब समुद्र विजय कंस को लेकर अर्द्धचक्री जरासंध के पास गए और सिंहरथ को उन्हें सौंप कर कंस के पराक्रम की कथा सुनायी। जरासंध ने जीवयशा का विवाह कंस के साथ कर दिया और मथुरा नगरी उसे दी कारण पिता के प्रति क्रुद्ध होने के कारण उसने वही नगरी जरासंध से माँगी। जरासंध प्रदत्त सैन्य लेकर कंस मथुरा गया और पिता को बन्दी बनाकर अतिमुक्त आदि पुत्र सहित कारागार में डाल दिया। पिता के दुख से दुखी होकर अतिमुक्त ने उसी समय प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। कंस ने शौर्यपुर से रस-व्यवसायी अपने पोषक माता-पिता को बुला कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की और स्वर्णादि देकर सम्मानित किया।

एक दिन धारिणी ने अपने पति को छोड़ देने के लिए अनुनय विनय किया। बोली—'तुम्हें कांस्य मंजूषा में रखकर मैंने यमुना में फिंकवा दिया था—उग्रसेन तो इस विषय में बिन्दुमात्र भी कुछ नहीं जानते। वे पूर्णतः निर्दोष हैं उन्हें मुक्त कर दो!' किन्तु कंस ने उन्हें मुक्त नहीं किया। तब धारिणी ने उन व्यक्तियों के पास जाकर जिनका कि कंस सम्मान करता था

सारी बात बतायी। उनके अनुरोध पर भी कंस ने उग्रसेन को मुक्त नहीं किया। पूर्वजन्म कृत निदान कभी मिथ्या नहीं होता।

समुद्र विजय को सम्वर्द्धित कर कंस ने उन्हें विदा किया—वे भी भाइयों के साथ स्वराज्य में लौट गए। वसुदेव जब शौर्यपुर में भ्रमण के लिए निकलते तो लड़कियों के लिए उनका रूप मन्त्र की भाँति कार्य करता।

एक दिन नगर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने राजा समुद्र विजय के पास जाकर उन्हें एकान्त में कहा—'वसुदेव का रूप देखकर लड़कियों ने मान-मर्यादा छोड़ दी है। जो स्त्री या कन्या उन्हें एक बार भी देख लेती है वह विवश हो जाती है। उनका तो कहना ही क्या जो उन्हें एक बार देख लेता है वह उन्हें इधर-उधर जाते बार-बार देखता है।' समुद्र विजय ने 'आप जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा' कहकर उन्हें विदा किया और अपने अनुचरों से कहा—'तुम लोग इस विषय में वसुदेव को कुछ मत कहना।

दूसरे दिन जब वसुदेव उन्हें प्रणाम करने आए तब समुद्र विजय ने उन्हें गोद में बैठाकर कहा—'नगर में इधर-उधर घूमते रहने से तुम दुर्बल होते जा रहे हो। अतः अब तुम दिन के समय घर से बाहर मत निकला करो। तुम मेरे घर पर ही रहा करो। नयी-नयी कलाएँ सीखो। जो कुछ सीखा है उसका पुनराभ्यास करो! कलाविदों के साथ मनोरंजन करो।' वसुदेव ने भी नम्र भाव से कहा—'ऐसा ही करूँगा।' अब वे उसी प्रकार प्रासाद में दिन व्यतीत करने लगे।

एक दिन कुब्जा दासी कुछ गन्ध द्रव्य लिए उधर से जा रही थी। वसुदेव नें उससे पूछा—'यह तुम किसके लिए ले जा रही हो?' कुब्जा ने कहा—'महारानी शिवा और महाराज समुद्र विजय के लिए ले जा रही हूँ।' वसुदेव झट बोल पड़े—यह तो मेरे काम आएगा और उपहास करते हुए उसके हाथों से डक ले लिया। क्रोधावेश में कुब्जा के मुँह से निकल पड़ा—'इस प्रकार के व्यवहार के कारण ही तो तुम्हें घर पर रखा जा रहा है।' वसुदेव बोले—'घर पर रखा जा रहा है किस प्रकार?' दासी प्रथम तो डर गयी किन्तु बाद में नगर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों के आगमन से लेकर सारा वृतान्त कह सुनाया। स्त्रियाँ रहस्य को अधिक दिनों तक मन में छिपा कर नहीं रख सकतीं।

तब वसुदेव सोचने लगे—'राजा सोचते हैं मैं स्त्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए घर से बाहर घूमता हूँ। ऐसी अवस्था में अब मेरा यहाँ रहना ही उचित नहीं है। ऐसा सोचकर उन्होंने कुब्जा को विदा किया। सन्ध्या समय गुटिका भक्षण कर वे अपना रूप बदल कर नगर से बाहर निकले—

और श्मशान में जाकर इधर-उधर पड़े हुए काष्ठ एकत्रित कर एक चिता जलायी और उसमें श्मशान में पड़े एक शव को रख दिया। शव के जल जाने पर अपना संदेश लिखकर वहाँ छोड़ दिया—'गुरुजनों के सम्मुख महाजनों ने गुण को दोष रूप में वर्णन किया। अतः स्वयं को जीवन्त मृत समझकर मैं अग्नि प्रवेश कर रहा हूँ। मेरे गुरुजन और नगरवासी मुझमें दोष है या नहीं मुझे क्षमा करें और मुझे भूल जाएँ।'

यह कार्य कर वसुदेव वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर पथ पर घूमने लगे। उसी पथ से एक वधू रथ में बैठकर अपने पितृगृह जा रही थी। सहसा उसकी दृष्टि वसुदेव पर पड़ी। उसने अपनी धात्री से कहा—'यह ब्राह्मण निश्चित ही चलने के कारण क्लान्त हो गया है इसे रथ पर बैठा लो।' उनलोगों ने वसुदेव को रथ पर चढ़ा लिया। इस प्रकार वसुदेव एक गाँव में जा पहुँचे। उस गाँव में स्नानाहार कर वसुदेव सन्ध्या समय वहाँ के यक्षायतन में गए। वहाँ उन्होंने लोगों के मुख से सुना कि वसुदेव ने अग्नि में प्रवेश कर लिया। अतः यादव दुःखित होकर उनकी अन्त्येष्टि-क्रियादि सम्पन्न कर रहे हैं। यह सुनकर वसुदेव निश्चिन्त हो गए और वहाँ से विजयखेट नामक नगर में पहुँचे।

विजयखेट के राजा का नाम था सुग्रीव। उनके श्यामा और विजय सेना नामक दो सुन्दर और कलाभिज्ञ लड़कियाँ थीं। वसुदेव ने कला-परीक्षा में विजय लाभ कर उन दोनों कन्याओं से विवाह कर लिया और सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे। विजय सेना के गर्भ से अक्रूर नामक एक पुत्र हुआ। रूप में वह द्वितीय वसुदेव ही था।

वहाँ से चलकर वे एक दिन वार्ष्णेय नामक एक भयंकर अरण्य में प्रविष्ठ हुए। प्यास लगने के कारण जल की सन्धान करते हुए वे जलावर्त नामक एक सरोवर के निकट पहुँचे। वहाँ जीवन्त वैताढ्य पर्वत से एक हाथी ने उन पर आक्रमण किया। किन्तु वसुदेव सिंह की भाँति उसे शान्त कर उस पर चढ़ गए। दो खेचर अर्चिकालिन और पवनंजय ने उन्हें हस्तीपृष्ठ से उठाया और कुंजरावर्त उद्यान में ले जाकर मुक्त कर दिया। वहाँ विद्याधरपति अशनिवेग ने अपनी कन्या श्यामा के साथ उनका विवाह कर दिया। वसुदेव वहाँ उसके साथ यौवन सुख भोग करते हुए रहने लगे।

एक दिन श्यामा के वीणावादन पर प्रसन्न होकर वसुदेव ने उसे एक वर माँगने को कहा। श्यामा बोली—'आपका और मेरा कभी वियोग न हो यही वर आप मुझे दें।' वसुदेव ने उत्तर दिया—'ऐसा ही होगा। पर बताओ

तुमने यह वर क्यों माँगा ?' 'तब सुनिए' कहकर श्यामा बतलाने लगी—'वैताढ्य पर्वत पर किन्नरगीत नामक नगर में अर्चीमाली नामक एक राजा था। उसके ज्वलनवेग और अशनिवेग नामक दो पुत्र थे। ज्वलनवेग को स्वराज्य देकर अर्चीमाली ने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ दिनों के पश्चात् ज्वलनवेग की विमला नामक रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया अंगारक। मैं अशनिवेग की कन्या हूँ। मेरी माता का नाम है सुप्रभा। कुछ दिनों पश्चात् ज्वलनवेग अशनिवेग को राज्य देकर स्वर्ग सिधार गए। अंगारक ने विद्या बल से मेरे पिता को राज्य से निष्कासित कर अपने पिता के राज्य पर अधिकार कर लिया।

इसके पश्चात् मेरे पिता अष्टापद पर्वत पर चले गये। वहाँ उन्होंने अंगीरस नामक एक चारण मुनि से पूछा—'क्या वे अपना राज्य पुनः प्राप्त करेंगे ?' मुनि बोले—'आपकी कन्या श्यामा के पति के शौर्य से आप अपना राज्य पुनः प्राप्त करेंगे।' जलावर्त सरोवर में हस्तीदमन के द्वारा वे पहचाने जायेंगे। उनकी बात पर विश्वास कर मेरे पिता यहाँ नगर पत्तन कर निवास करने लगे। उन्होंने दो खेचरों को जलावर्त सरोवर के निकट सर्वदा रहने का आदेश दिया। आपको हस्तीदमन कर उसपर चढ़ते देखकर वे आपको उठाकर यहाँ ले आए हैं और मेरे पिता ने मेरा विवाह आपसे कर दिया है।

'अतीत में नागदेवों के इन्द्र धरणेन्द्र और विद्याधरों के मध्य यह बात हुई कि जो अर्हत चैत्य और साधु के निकट अथवा स्त्री सहित रहते हुए कोई किसी की हत्या करता है तो उत्तम विद्या सम्पन्न होते हुए भी उसकी विद्या नष्ट हो जाएगी। हे प्रभु, इसीलिए मैंने सर्वदा आपके पास रहने का वर माँगा है ताकि अंगारक आपको मार न सके। वसुदेव ने यह स्वीकार कर लिया और कलाभ्यास करते हुए उसके साथ आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे।

एक दिन रात्रि के समय जबकि वे श्यामा के साथ सोए हुए थे अंगारक उन्हें उठाकर ले चला।

जाग्रत होने पर वसुदेव सोचने लगे कौन मुझे हरण कर लिए जा रहा है ? तभी उन्होंने अंगारक को देखा जिसका चेहरा श्यामा से बहुत मिलता था और श्यामा भी 'खड़ा रह खड़ा रह' करती हुई हाथ में तलवार लिए उसके पीछे-पीछे आ रही थी। अंगारक ने श्यामा के दो टुकड़े कर डाले। यह देखकर वसुदेव आर्त्तनाद कर उठे—किन्तु दूसरे क्षण ही उन्होंने देखा दो श्यामा अंगारक के साथ दो ओर से युद्ध कर रही थी। यह देखकर वसुदेव

समझ गए यह समस्त इन्द्रजाल है। तब उन्होंने इन्द्र जिस प्रकार पर्वत पर आघात करता है उसी प्रकार स्व मुष्ठि द्वारा अंगारक के मस्तक पर प्रहार किया। उस आघात से घबड़ाकर उसने वसुदेव को छोड़ दिया। तब वसुदेव आकाश से चम्पा नगरी के बाहर एक सरोवर में जा गिरे। वसुदेव हंस की भाँति तैरते हुए तट पर आए और सरोवर तट पर स्थित उद्यान में अवस्थित श्री वासुपूज्य स्वामी के मन्दिर में प्रविष्ठ हुए। उन्होंने श्री वासुपूज्य स्वामी की पूजा कर शेष रात्रि वहीं व्यतीत की। दूसरे दिन सुबह उन्हें एक ब्राह्मण मिला। उसी ब्राह्मण के साथ उन्होंने नगर में प्रवेश किया। वहाँ बाजार में उन्होंने सर्वत्र युवकों को वीणा-वादन सहित कला का अभ्यास करते हुए देखा। तब उन्होंने उस ब्राह्मण से इसका कारण पूछा।

ब्राह्मण ने कहा—यहाँ चारुदत्त नामक एक श्रेष्ठी रहते हैं। उनकी कला की निधान अत्यन्त रूपवती एक कन्या है। उसकी प्रतिज्ञा है—जो उसे संगीत और वीणा-वादन में परास्त करेगा उसी के गले में वह वरमाला डालेगी। अतः यहाँ सभी संगीत और वीणा-वादन का अभ्यास कर रहे हैं। हर महीने सुग्रीव और यशोग्रीव नामक दो आचार्यों के तत्वावधान में यहाँ संगीत प्रतियोगिता आयोजित होती है।

तब वसुदेव प्रमुख कलाचार्य सुग्रीव के पास ब्राह्मण वेश में गए और बोले—'मेरा नाम स्कन्दिल है। मैं गौतम गौत्रीय ब्राह्मण हूँ। गन्धर्व सेना को प्राप्त करने के लिए मैं आपसे संगीत का अभ्यास करना चाहता हूँ। मेरे विदेशी होने पर भी आप मुझे शिष्य रूप में ग्रहण करें। मन्द बुद्धि सुग्रीव जिस प्रकार कदर्भ आवृत रत्न को पहचाना नहीं जाता उसी प्रकार वसुदेव को पहचान नहीं सका और उन्हें मूर्ख समझ लिया। वसुदेव फिर भी अपना परिचय छिपाए हुए सुग्रीव के पास ही रहे और ग्राम्य कथा सुना-सुना कर समस्त दिन अपने कार्यों द्वारा लोगों को हँसाते रहे।

क्रमशः प्रतियोगिता का दिन आ गया। उस दिन सुग्रीव की पत्नी ने वसुदेव के प्रति पुत्र-सा स्नेह उत्पन्न होने के कारण उन्हें एक जोड़ा क्षौम वस्त्र पहनने के लिए दिए। वसुदेव ने वही क्षौम वस्त्र और श्यामा प्रदत्त अलंकार धारण किए। वसुदेव को उस वेश में देखकर लोगों को कौतूहल हुआ। वे उपहास करते हुए कहने लगे—'आज तुम अवश्य ही गन्धर्व सेना को परास्त कर उसे प्राप्त करोगे क्योंकि तुम संगीत में परम दक्ष हो।' उन सबका यही सब उपहास सुनते हुए वसुदेव प्रतियोगिता सभा में उपस्थित हो गए। जो मजाक उड़ा रहे थे उन्होंने उन्हें एक उच्च स्थान पर बैठा दिया।

मृत्युलोक में अवतरित देवी की भाँति गन्धर्व सेना ने उस सभा में प्रवेश किया एवं वहाँ के और विदेश से आए सभी संगीतविदों को परास्त कर दिया। जब वसुदेव का समय आया तो वे जिस प्रकार रूप परिवर्तित करते रहे हैं उसी प्रकार रूप बदल कर स्व-रूप में गन्धर्व सेना के सम्मुख उपस्थित हो गए। गन्धर्व सेना उन्हें देखते ही उनके रूप पर मुग्ध हो गयी। लोग भी आश्चर्य चकित होकर कहने लगे—'यह कौन है?' वसुदेव के पास वीणा नहीं थी अतः लोग उन्हें वीणा देने लगे किन्तु उन सभी की वीणा में कोई न कोई दोष बताकर वे उन्हें लौटा दिए। तब गन्धर्व सेना ने उन्हें अपनी वीणा दी। वसुदेव ने वीणा के तारों को बाँधकर गन्धर्व-सेना से पूछा—'तुम कौन-सा संगीत सुनना चाहती हो?' प्रत्युत्तर में गन्धर्व सेना ने कहा—'मैं चक्री पद्‌म के अग्रज विष्णु कुमार की त्रिपाद से सम्बन्धित संगीत सुनना चाहती हूँ। सरस्वती ही मानो पुरुष वेश धारण कर उपस्थित हो गयी हों इस प्रकार वसुदेव ने उस संगीत का परिवेशन कर गन्धर्व सेना सहित सारी सेना को परास्त कर दिया।

तब श्रेष्ठी चारुदत्त सभी संगीतविदों को विदा कर वसुदेव को अपने घर ले गए। विवाह के समय श्रेष्ठी ने वसुदेव से पूछा—'पुत्र, तुम्हारा गौत्र क्या है?' वसुदेव हँसकर बोले—'आपके परिवार का गोत्र क्या है?' श्रेष्ठी हँसते हुए कहने लगे—'तुम उसे वणिक कन्या समझकर तुच्छ समझ रहे हो किन्तु यथा समय मैं तुम्हें उसका पूर्ण विवरण दूँगा।' ऐसा कहकर श्रेष्ठी ने उन दोनों का विवाह कर दिया। वसुदेव के गुणों पर मुग्ध होकर सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी अपनी-अपनी कन्याएँ श्यामा और विजया के साथ उनका विवाह कर दिया।

एक दिन चारुदत्त ने वसुदेव से कहा—'आज मैं तुम्हें गन्धर्व सेना का कुल सम्बन्धी सारा वृतान्त सुनाता हूँ। इस नगर में भानु नामक एक धनी श्रेष्ठी रहते थे। उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। पुत्र नहीं होने के कारण वे दुःखी थे। एक दिन उन्होंने एक चारण मुनि से पूछा—'उनके पुत्र होगा या नहीं?' तब उन्होंने कहा—'पुत्र होगा।' कालक्रम से मैं उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

'एक दिन बन्धु-बान्धवों सहित मैं एक नदी सैकत पर क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ मैंने एक खेचर का सुन्दर पद-चिन्ह देखा। और समीप ही किसी स्त्री का पद-चिह्न देखकर मैं समझ गया कि उसकी पत्नी भी उसके साथ है। सम्मुख ही एक कदली-गृह भी देखा जिसमें पुष्प शैय्या भी थी जो कि ढाल-

तलवार से सुरक्षित थी। कुछ ही दूरी पर मैंने एक विद्याधर को एक वृक्ष से लौह कील द्वारा बद्ध अवस्था में देखा। क्या किया जाए सोचते हुए मुझे उनकी तलवार की म्यान के पास तीन औषधियाँ दिखी। उसी औषधि में से एक का प्रयोग कर मैंने उन्हें लौह कील से मुक्त किया। दूसरी औषधि का प्रयोग कर उनके दाँतों को भरा और तीसरी औषधि से उनकी चेतना लौटायी।

वे अपना परिचय देते हुए बोले—'मेरा नाम अमितगति है। मैं वैताढ्य पर्वत पर स्थित शिव मन्दिर नगरी के राजा महेन्द्र विक्रम का पुत्र हूँ। एक दिन मै अपने दो मित्र धूमशिख और गौरमुण्ड के साथ पर्वत श्रेष्ठ ह्रीमन्त पर्वत पर क्रीड़ा करने गया। वहाँ मैंने मेरे मामा हिरण्यरोम जो कि तपस्वी हो गए थे की कन्या सुकुमालिका को देखा। उसे देखकर विमुग्ध विमूढ़ होकर मैं घर लौटा। मित्रों द्वारा मेरी स्थिति ज्ञात होने पर मेरे पिताजी सुकुमालिका को वहाँ ले आए और मेरे साथ उसका विवाह कर दिया।

'मैंने कुछ दिन उसके साथ आनन्दपूर्वक व्यतीत किए किन्तु बाद में पता चला कि मेरा मित्र धूमशिख सुकुमालिका के प्रति आकृष्ट हो गया है। किन्तु इसके लिए मैंने उस पर दोषारोपण नहीं किया और न ही उसका मेरे यहाँ आना-जाना बन्द किया। आज हम यहाँ एक साथ ही थे। धूमशिख मेरी असतर्कता से लाभ उठाकर मुझे एक वृक्ष से कीलक बद्ध कर सुकुमारिका को हरण कर ले गया। आपने इस समय मेरे प्राणों की रक्षा की है। हे अकारण बन्धु, अब आप मुझे बताएँ मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ?'

मैंने उत्तर दिया—'किसी प्रत्युपकार की आशा से मैंने आपकी सेवा नहीं की है। जो कुछ किया वह स्व-कर्त्तव्य बोध से ही किया है।' ऐसा सुनकर वह विद्याधर आकाश मार्ग से उड़ गया और मैं भी मेरे घर लौट आया। क्रमशः मित्रों के साथ खेल-कूद कर एवं माता-पिता की आँखों को आनन्द देता हुआ मैं युवा हुआ। तदुपरान्त माता-पिता की आज्ञा से मेरा विवाह एक शुभ दिन मेरे मामा सार्थवाह सर्वार्थ की कन्या मित्रवती से हुआ। किन्तु उस समय मैं कला-शिक्षा में इतना उन्मत्त हो गया था कि उसकी ओर मैंने कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा। यह बात मेरे माता-पिता ने लक्ष्य की। वे सोचने लगे मैं अभी काम-कला से अनभिज्ञ हूँ।

'अतः मेरे माता-पिता ने मेरे लिए ललित गोष्ठी का आयोजन कर दिया ताकि मैं काम-कला में भिज्ञ बन सकूँ। मैं इच्छानुसार अब उद्यान आदि

में आने लगा। इस भाँति मैंने बारह वर्ष गणिका कलिंग सेना की कन्या वसंत सेना के साथ यौवन-सुख भोग करने लगा। मेरे लिए मेरे पिताजी ने सोलह कोटि स्वर्ण व्यय किए किन्तु मैं यह जान नहीं सका। तदुपरान्त मैं निर्धन हो गया हूँ जानकर कलिंग सेना ने अपने घर से मुझे निकाल दिया।

'घर लौटकर आने पर संवाद मिला कि माता-पिता की मृत्यु हो गयी है। उस समय मेरी स्थिती दयनीय हो गयी थी—फिर भी साहस संचय कर पत्नी से अलंकारादि लेकर व्यवसाय प्रारम्भ किया। एक दिन मैं मामा के साथ इसीरवती नगरी में गया और उम अलंकारों के विनिमय में रूई खरीदी। मैं उस रूई को लेकर ताम्रलिप्ति की ओर गया—राह में वह रूई दावानल में जलकर भस्म हो गयी। यह देखकर मेरे मामा ने भी अभागा समझ कर मेरा परित्याग कर दिया। तब मैं अकेला ही घोड़े चढ़कर पश्चिम दिशा की यात्रा पर निकला। दुर्भाग्यवश मेरे अश्व की भी राह में मृत्य हो गयी। अब मैं पैदल ही चलने लगा। पथ-श्रम और भूख-प्यास से कातर होकर मैं प्रियंगु नामक नगर में पहुँचा। वहाँ वणिकों की बहुत बड़ी बस्ती थी। मेरे पिता के मित्र सुरेन्द्रदत्त ने मुझे देखा और पहचान लिया। वे मुझे अपने घर ले गए और वस्त्र आहार देकर परितृप्त किया। वहाँ मैं स्वच्छन्दतापूर्वक रहने लगा।

'वहाँ मैंने ब्याज पर एक लाख का ऋण लिया जबकि सुरेन्द्रदत्त ने मुझे मना किया था। उसी अर्थ से द्रव्यादि खरीद कर एक वाणिज्यगामी जहाज में अन्य वणिकों के साथ मैं भी चढ़ गया और यमुना द्वीप जा पहुँचा। वहाँ अन्तर्द्वीप एवं अन्य नगरों की यात्रा करता हुआ आठ कोटि स्वर्ण उपार्जित किए। फिर मैंने स्वदेश लौटने के लिए पुनः जल-पथ की यात्रा आरम्भ की। किन्तु दुर्भाग्यवश राह में ही नौका टुकड़े-टुकड़े हो गयी और मैं एक काष्ठ का अवलम्बन लिए बहता हुआ सात दिनों पश्चात् उदम्बरावती बेल नामक एक नगरी के तट पर आ पहुँचा। वहाँ से मैं राजपुरा नामक नगरी में गया। नगरी के बाहर उद्यान पाद आश्रम में त्रिदण्डी दिनकरप्रभ को देखा। उसको मेरा वंश परिचयादि देकर सारी बात स्पष्टतया समझा दी। उसने भी मुझे पुत्र-सा स्नेह देकर अपने आश्रम पद में आश्रय दिया। एक दिन वह मुझसे बोला—'मुझे लगता है पुत्र, तुम धन के अभिलाषी हो। अतः चलो एक पर्वत पर चलें। वहाँ मैं तुम्हें एक रस दूँगा जिसके द्वारा तुम कोटि-कोटि स्वर्ण तैयार कर सकोगे।

'यह सुनकर मैंने सानन्द उसके साथ यात्रा की और सन्ध्या समय जादूगरों का निवास स्थल एक भयंकर अरण्य में प्रवेश किया। उस अरण्य से होकर

हम उस पर्वत की तलहटी में पहुँचे। वहाँ एक विराट गुफा दिखाई पड़ी जो कि बड़े-बड़े पत्थरों से अवरुद्ध थी और वह यम के मुख-सी भयंकर लग रही थी। त्रिदण्डी ने मन्त्र बल से गुफा का द्वार खोल दिया। तब हम दुर्ग पाताल नामक एक वृहद् गुफा में प्रविष्ठ हुए। गुफा में बहुत दूर तक चलने के पश्चात् हम रस-पूर्ण उस कूप के निकट पहुँचे जो चार हाथ और नरक के द्वार-सी लगती थी। त्रिदण्डी बोला—'इस कूप में प्रवेश कर वहाँ से रस ले आओ।' उसने मुझे एक छोटी-सी मचिया पर बैठाकर अपना कमण्डल देकर रस्सी की सहायता से कुएँ में उतार दिया और स्वयं रस्सी को पकड़े रहा। चौबीस हाथ नीचे जाने के पश्चात् मैंने दीवारों से घिरे उस रस को देखा। वहाँ न जाने किसने मुझे रुकने को कहा। मैंने उससे कहा—'मैं चारुदत्त नामक एक वणिक हूँ। त्रिदण्डी ने रस ग्रहण के लिए मुझे यहाँ उतारा है। तुम मुझे क्यों रोक रहे हो?' प्रत्युत्तर में उसने कहा—'मैं भी तुम्हारी तरह एक धनलोभी वणिक हूँ। इसी त्रिदण्डी ने एक टुकड़ा मांस की भाँति इस रसपूर्ण कूप में धकेला और स्वयं चला गया। मेरा निम्नांग इसी रस में गल गया है। तुम इसमें मत उतरो। मैं तुम्हारे कमण्डल में रस भर दूँगा। तब मैंने उसे अपना कमण्डल दिया। उसने उस कमण्डल में रस भरकर मेरी मचिया के नीचे बाँध दिया। तब मैंने रस्सी खींची तो वह त्रिदण्डी मुझे ऊपर खींचने लगा और जब मैं कुएँ के मुख के पास पहुँचा तब उसने वह रस भरा कमण्डल मुझे देने को कहा—किन्तु मुझे बाहर नहीं निकाला। जब मैंने देखा उस लोभी ने भयंकर रूप धारण कर लिया है तो मैंने उस तरल पदार्थ को कुएँ में फेंक दिया। उसने भी रस्सी छोड़ दी। मैं मचिया सहित उस कुएँ की भीतरी दीवाल पर जा गिरा। तब वह मेरा अकारण बन्धु मुझे सान्त्वना देता हुआ बोला—'खेद मत करो, तुम इस रस के मध्य नहीं गिरे हो, दीवाल के ऊपर गिरे हो। यहाँ एक गोह रस-पान के लिए आती है तुम उसकी पूँछ कसकर पकड़ लेना—इस भाँति वह तुम्हें कुएँ के बाहर ले जाएगी। अभी तुम छिद्र-पथ के समीप जाओ और उसके आने की प्रतीक्षा करो।' उसके सान्त्वना वाक्य से आश्वस्त होकर मैं कुछ समय तक वहीं रहा और नवकार महामंत्र का जाप करने लगा। इसी बीच वह व्यक्ति मर गया। तदुपरान्त मैंने एक भयंकर शब्द सुना अतः भय से काँपने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण उस वणिक की बात याद आ जाने पर सोचने लगा-लगता है वही गोह रस-पान करने आयी है। मेरा अनुमान सत्य निकला। महाबलशाली वह गोह रसपान कर जैसे ही जाने को घूमी मैंने उसकी पूंछ खूब मजबूती से पकड़ ली।

[क्रमशः

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

जैन जर्नल ।। अक्टूबर १९९३

इस अंक में है 'Sacred Lirerarure of the Jains' (Albrecht Friedrich Weber), 'Implications of Ahimsa on Ecology : A Jaina Perspective' (Vincent Sekhar), 'A Note on Some Copper Icons from Thrrunarungkondai' (S. Thanyakumar).

श्रवण ।। अक्टूबर-दिसम्बर १९९३

इस अंक में है 'जैन परम्परा के विकास में स्त्रियों का योगदान' (डा० अरुण प्रताप सिंह), 'अशोक के अभिलेखों में अनेकान्तवादी चिन्तन : एक समीक्षा' (डा० अरुण प्रताप सिंह), 'हिन्दू एवं जैन परम्परा में समाधिमरण : एक समीक्षा' (डा० अरुण प्रताप सिंह), 'प्राचीन जैन ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का विकासक्रम' (डा० अशोक सिंह), 'हिन्दी जैन साहित्य का विस्मृत बुन्देली कवि : देवीदास' (डा० श्रीमती विद्यावती जैम), 'वृहत् कल्प सूत्र भाष्य का सांस्कृतिक अध्ययन' (डा० महेन्द्र प्रताप सिंह), 'त्रिषष्टि-शला का पुरुष चरित्र : एक कलापरक अध्ययन' (डा० शुभा पाठक)।

शोधादर्श ।। नवम्बर १९९३

प्रस्तुत अंक में है 'धर्म क्या सिखाता है!' (डा० ज्योति प्रसाद जैन), 'सम्पादकीय : समाचार विमर्श' (श्रीअजित प्रसाद जैन), 'प्रतिकिया' (पं० अमृतलाल शास्त्री), 'श्रीबाहुबली महामस्तकाभिषेक विमर्श' (श्रीअजित प्रसाद जैन), (श्रीबाबूलाल जैन पाटौदी), (श्रीज्ञानचन्द्र खिन्दूका), (श्रीत्रिलोक चन्द्र जैन शास्त्री), 'नयमसार के प्रकाशित संस्करण' (डा० ऋषभचन्द्र फौजदार), 'तीर्थंकर अरिष्टनेत्रि व कृष्ण' (डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया), 'जैन स्रोतों के आधार पर चौलुक्यों का इतिहास' (डा० केशवप्रसाद गुप्त), 'जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन—एक तुलनात्मक अध्ययन' (डा० विजय कुमार), 'जैन कर्म सिद्धान्त और मनोविज्ञान' (डा० रत्नलाल जैन), 'नल क्रिलास : एक आलोचनात्मक अध्ययन' (डा० कृष्णलाल त्रिपाठी), 'साहित्य सत्कार' (श्रीअजित प्रसाद जैन), (प्रो० शीलचन्द्र जैन), (डा० शशिकान्त)।

WB/NC-330
Vol. XVII No. 9 TITTHAYARA January 1994
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

आ.श्री. कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र कोबा

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२